क़िस्त-2

आयतुल्लाहिलउज़्मा सैय्यिदुलउलमा सै० अली नक़ी नक़वी ताबा सराह

(पिछले अंक से आगे)

फ़राएज़े हज में भी सई की अहमियत ज़ाहिर है जिसका पस मन्ज़र ये है कि ख़लीले हक़ ने दूध पीते बच्चे को उसकी माँ के साथ बेआबो ग्याह मैदान में पहुँचा दिया। चलते वक़्त एक कूज़-ए-आब और दो चार रोटियाँ दे गए, वह कब तक चलें। ज़ाहिर है कि पहले माँ पर भूक और प्यास का ग़लबा हुआ मगर माँ ने उसको बर्दाश्त किया। उसके बाद एक वक़्त वह आया कि बच्चे की फ़ितरी ग़िज़ा का ख़ज़ाना ख़त्म हो गया। अब बच्चे पर भूक-प्यास का ग़लबा हुआ। जब माँ ने बच्चे को तड़पता देखा तो खड़ी हो गईं और सफ़ा मरवा दो पहाड़ियों पर गईं तलाशे आब के लिए। अब ख़याल हुआ कि बच्चा अकेला है तो दौड़कर बच्चे के पास आईं और फिर बच्चे का तड़पना देखा न गया तो दोबारा तलाशे आब के लिए पहाड़ी पर गईं। सात दफ़ा आईं और गईं। अक़्ल से पूछिये वह क़ादिरे मुतलक़ जो बाद में ज़मज़म को नमूदार कर सकता था क्या वह इस पर क़ादिर न था कि पहले ही जब ग़लबा-ए-अतश हुआ तो ज़मज़म नमूदार कर देता। लेकिन उसे तो ये सुन्नत क़ायम रखना थी कि पहले सई करो। फिर नतीजे का इन्तिज़ार करो। सई करो तो रहमते इलाही तुम्हारे शामिले हाल होगी।

अब क़यामत तक के लिए मुसलमानों को भी दोनों पहाड़ियों के दरमियान गर्दिश करना है और उसका नाम वही "सई" है।

ये सई क्या है? एक बीबी के अमल की शबीह है वरना हम जो सई करते हैं तो क्या हम तलाशे आब करते हैं? नहीं। मालूम हुआ कि असल मक़सद अमल का ताल्लुक़ साहेबे अमल से होता है और बाद में हमारा काम उसकी याद का क़ायम रखना होता है। सफ़ा मरवा वह दोनों पहाड़ियाँ जहाँ ये सई हुई थी शआरुल्लाह का जुज़ बन गईं। हालांकि जनाब हाजरा का सिर्फ़ क़दम मस हुआ था। उनके पाँव से ख़ून का क़तरा नहीं टपका था। फिर भी ये दोनों पहाड़ शआएरुल्लाह बन गए तो जिस ज़मीन में शहीदों का ख़ून जज़्ब हो गया हो, वह ज़मीन क्या शआरुल्लाह में दाख़िल नहीं होगी?

मनासिके हज में ज़्यादातर इब्राहीम[अ०] और इस्माईल[अ०] की यादगारें ही हैं इरशाद हुआ है:

"इब्राहीम[अ०] के खड़े होने की जगह को अपनी नमाज़ का मक़ाम बनाओ।"

इसी बिना पर नमाज़े तवाफ़ मक़ामे इब्राहीम में पढ़ी जाती है। अब बताइये कि क्या इब्राहीम[अ०] का तसव्वुर इस नमाज़ में नहीं रहेगा?

जो मक़ासिदे इलाही में अपनी ज़िन्दगी सर्फ़ करते हैं, उनकी याद मरज़ि-ए-इलाही होती है।

मिना की क़ुर्बानी में हाजी कितना रुपया सर्फ़ करता है? मुसलमानों का इतना पैसा बिला वजह सर्फ़ होता है, मगर नहीं ये बिला वजह नहीं है। ख़ासाने इलाही की याद क़ायम करना ख़ुद इतना गराँक़द्र मक़सद है जिसके मुक़ाबले में मआशी पहलू कोई चीज़ नहीं है।

ये क़ुर्बानी क्या है? आख़िर इसमें दस ज़िलहिज्जा

की क्या ख़ुसूसियत है चूँकि आज से मुद्दतों पहले ये क़ुर्बानी हुई थी। लेहाज़ा इस दिन उस क़ुर्बानी को याद करो।

फिर अगर लफ़्ज़ी याद काफ़ी होती है तो क़ुर्बानि-ए-इब्राहीम[अ०] की मुताल्लिक़ा आयतें पढ़ लेते मगर ख़ालिक़े फ़ितरत वाक़िफ़ है कि फ़ितरते इन्सानी में लफ़्ज़ी याद इतनी असर अन्दाज़ नहीं होती जितनी कोई मुजस्सम शक्ल में अमली सूरत, ये क़ुर्बानी शबीहे अमले ख़लील है। वह सई शबीहे मादरे इस्माईल थी फिर इन जानवरों को देखिये। ये किसकी शबीह हैं? ये शबीहे इस्माईल तो नहीं हैं क्योंकि इस्माईल का ज़िब्ह होना अमली तौर पर पाया-ए-तकमील को नहीं पहुँचा। वह रंज हुए नहीं बल्कि ये शबीह उस गोस्फ़न्द की है जो फ़िदया बन कर आया था। इसका मतलब ये है कि वह जानवर जो किसी वली-ए-ख़ुदा के काम आए, उसकी भी यादगार मनाना ख़ालिक़ को पसन्द है। इसके बाद ज़ुलजनाह की शबीह पर किसी को मोतरिज़ न होना चाहिए।

फ़रीज़-ए-इस्लामी इन्सानी किसी क़ुर्बानी का भुलाना नहीं है। 10 ज़िलहिज्जा को फ़रज़न्दे ख़लील की क़ुर्बानी है और 10 मुहर्रम को फ़र्ज़न्दे हबीब हक़ की क़ुर्बानी।

जनाब इब्राहीम[अ०] से हमारा एतेक़ादी रिश्ता है। अमली रिश्ता नहीं और अपने रसूल[स०] से अमली रिश्ता भी है कि उनकी तालीमात पर हमें कारबन्द होना है तो फ़रज़न्दे ख़लील की क़ुर्बानी को याद रखने की ज़रूरत है और ख़ुद अपने रसूल की क़ुर्बानी याद रखने के क़ाबिल न होगी?

अब कोई कहे कि वह याद तो बतौरे ईद है। यहाँ ग़म क्यों किया जाता है मैं कहता हूँ कि ये नतीजे के फ़र्क़ की बिना पर है। रोज़े क़ुर्बानि-ए-इस्माईल रोज़े ईद है इसलिए कि दुम्बा आ गया और नबी ज़ादा बच गया मगर दस मुहर्रम को फ़रज़न्दे रसूल[स०] ज़बह हो गया, इसलिए रोज़े ग़म है।

और ये तसव्वुर कि जो मरतब-ए-शहादत पर फ़ायज़ हुआ, उसे रोना नहीं चाहिए ग़लत हो गया। जनाब हमज़ा की मिसाल से कि जब आप शहीद हुए तो रसूल[स०] की ख़्वाहिश के मुताबिक़ अन्सार की औरतें ख़ाना-ए-जनाब हमज़ा में आकर सफ़िया को पुरसा देकर गिरया करने लगीं और आवाज़ गिरया रसूल[स०] तक पहुँची तो आपने दुआ के लिए हाथ उठाए, ऐ बीबियो अल्लाह तुम से राज़ी हो तुम्हारे शौहरों से राज़ी हो तुम्हारी औलाद से राज़ी हो। अब इन्साफ़ से देखिये पैग़म्बरे ख़ुदा[स०] ने ख़्वातीन अग़यार के गिरया की आवाज़ों पर हसरत से फ़रमाया थाः

मेरे चचा हमज़ा पर रोने वालियाँ नहीं हैं तो अगर रसूल[स०] कर्बला में होते तो ये न फ़रमाते कि

मेरे फ़रज़न्द हुसैन[अ०] पर रोने वाला कोई नहीं है और फिर ज़्यादा हसरतनाक बात ये है कि रोने वाले हों मगर रोने न दिया जाए।

इमाम हुसैन[अ०] को रोने वाले मौजूद थे।

ज़ैनब, उम्मे कुल्सूम ऐसी बहनें, फ़ातिमा[स०] सकीना ऐसी बेटियाँ लैला व रुबाब ऐसी बीवियाँ और सैय्यिदुस्साजिदीन ऐसे फ़रज़न्द मगर— मगर ये लोग रोने कहाँ पाए? जो रोने का ख़ास वक़्त था, उस वक़्त ख़ेमों में आग लगी हुई थी। बीबियों का आलम ये था कि एक ख़ेमे में आग लगती थी तो दूसरे ख़ेमे में चली जाती थीं। यहाँ तक कि आग के शोलों में सब ख़ैमे घिर गए मगर अब भी घबरा के क़दम बाहर नहीं निकलते। सिमट-सिमट कर सानि-ए-ज़हरा हज़रत ज़ैनब के पास आईं कि आप जानशीने फ़ातिमा हैं, बताईये हर तरफ़ आग के शोले बलन्द हैं क्या करें?

हज़रत ज़ैनब, यक़ीनन मसल-ए-शरई से वाक़िफ़ थीं मगर फ़रीज़-ए-हिजाब की अहमियत दिखाना थी कि फ़रमाती हैं बीबियो! मुझ से क्यों पूछती हो? ख़ुदा इमामे वक़्त को ज़िन्दा रखे बग़ैर इस से पूछे मैं क्या जवाब दूँ? आईं अब सैय्यद सज्जाद के पास..... देखिये ये इम्तिहान कैसा सख़्त है? हमारे चौथे इमाम से बाप के बाद बहैसियते इमाम मसला क्या पूछा जाता है? वह ये है कि फूफी सरहाने खड़ी हैं, कहती हैं, बेटा देखो चारों तरफ़ ख़ेमों में आग के शोले बलन्द हैं। अब तुम इमामे वक़्त हो, बताओ हुक्मे ख़ुदा इस वक़्त क्या है। जल कर

मर जाएं या ख़ेमों से बाहर निकलें और अब सैय्यदे सज्जाद को कहना पड़ता है कि अब ख़ेमों से बाहर निकलिये और वह बीबियाँ जिनकी माँ का जनाज़ा रात को उठा था, ख़ेमों से रोज़े रौशन में बाहर आती हैं इस तरह कि ''अपने मुँह पर तमांचे मारती हुई बाल सरों से बिखराए हुए''।

(2)

दूसरा शोबा आख़िरत की कामयाबी के लिए अमल। अब दुनिया के मक़ासिद के लिए कोई ज़ाहिद कह सकता था कि हमें माल की ज़रूरत नहीं। दुनिया की कामयाबी ज़रूरत नहीं मगर क्या कोई मोमिन ऐसा है जो कहे मुझे जन्नत की ज़रूरत नहीं या नजाते आख़िरत की ज़रूरत नहीं। ये तो वही कहेगा जो आख़िरत का क़ायल न हो तो जन्नत और कम अज़ कम नजात हर फ़र्दे मुसलिम का नस्बुल ऐन है। मगर तसव्वुर यही है कि हमें कुछ करना न पड़े। नतीजा बेहतर से बेहतर हासिल हो और सई का सवाल पैदा न हो। मगर मैं पूरे मुताल-ए-क़ुरआन के सहारे से अर्ज़ कर रहा हूँ कि क़ुरआन में आख़िरत की नवेद हर जगह अमल पर दी गई है और जिन-जिन मुख़तलिफ़ अलफ़ाज़ से इस मक़सद को नुमायाँ किया गया है, उन पर अगर किताब लिखी जाए तो हर क़िस्म की आयात को अलाहेदा-अलाहेदा तफ़सील के साथ पेश किया जा सकता है। मसलन ये आयत जो मेरा सरनाम-ए-कलाम है कि ''आख़िरत में तमाम लोग निकलेंगे, गिरोह दर गिरोह ताकि उनके आमाल उनको दिखाये जाएं तो जो ज़र्रा बराबर भी अमले ख़ैर करेगा, वह उसे देख लेगा वह जो ज़र्रा बराबर भी अमले शर करेगा उसे देख लेगा।'' यह एक बाब की नुमाइन्दा है जो अमल के उनवान से है दूसरी सिन्फ़ उन आयात की है जो सई के उनवान से हैः मसलन-

जो आख़िरत को पेशे नज़र रखे और उसकी ख़ातिर वह सई भी करे जो उसके लिए दरकार है दर हालांकि वह मोमिन हो तो उस की सई की नाक़दरी नहीं होगी।

बाज़ आयात में मोहसिन की लफ़्ज़ आई है। क़ुरआन हुस्ने अमल को एहसान कहता है ये यहूद व नसारा का तसव्वुर था कि जमाअती तौर पर हम नजात और दाख़ल-ए-जन्नत के हक़दार हैं।

''उनका क़ौल है कि जन्नत में हरगिज़ कोई दाख़िल नहीं होगा, सिवा इसके जो यहूदी हो (यह यहूदी कहते हैं) या ईसाई हो (ये नसारा का क़ौल है)।

हमारी आम ज़हनियत के मुताबिक़ इसके जवाब में ये कहा जाता है कि वाह मुसलमानों के सिवा कोई जन्नत में नहीं जा सकता।

मगर ये जवाब ही क्या था, जो दावे से टकराव न होता जैसे वह उनका नारा था वैसे उनके मुक़ाबले में मुसलमानों का ये नारा हो जाता।

क़ुरआन कहता है उनके जवाब में ये कहो कि अगर तुम सच्चे हो तो अपनी दलील पेश करो। अब इससे ये उसूल क़ायम हो गया कि बग़ैर दलील के किसी का दावा क़ुबूल नहीं हो सकता।

उन्होंने कहा था सिवा यहूद व नसारा के कोई जन्नत में नहीं जायेगा। इरशाद होता है क्यों नहीं? मगर अब ये नहीं कहा जाता कि मुसलमान यक़ीनन जन्नत में जायेंगे। अगर ये मुसलमान कहा जाता तो वह एक जमाअत का लक़ब क़रार पा जाता लेहाज़ा मुसलमान नहीं कहा जाता बल्कि कहा जाता है कि जो अपने चेहरे को बिल्कुल अल्लाह की तरफ मोड़ दे यानी जो मुस्लिम बताया जा रहा है।

''और उसके साथ हुस्ने अमल रखता हो'' तो उसके लिए उसका अज्र है। यहाँ ये नहीं कहा जाता कि उनके लिए बड़ा अज्र है। या ये कि अज्र है, जिससे समझा जाता कि हर मुस्लिम के लिए जो नेक अमल हो, एक मुअय्यन अज्र है जो यक्साँ तौर पर मिलेगा। बल्कि ''लहुम अज्रुहुम'' उनके लिए उनका अज्र है। क्या मतलब? यानी जितना हुस्ने अमल अमल हुआ उतने अज्र का हक़ है। और अन्जाम में न उनके लिए ख़ौफ़ है, न उनके लिए एक जगह है।

''ख़ुदा नहीं बर्बाद करता अज्र को उसके जो अपने आमाल को दुरुस्त रखे।''

ऐसी ही कितनी आयतें क़ुरआन की हैं जिनमें

अमल की अहमियत दिखाई गई है।

सबका ख़ुलासा ये है कि "इस्लाम दीने अमल है। अब कितनी इबरत की बात है कि जिस क़ौम की बुनियादी किताब में इतना अमल पर ज़ोर दिया गया हो, उस क़ौम में यह तसव्वुर पैदा हो जाए कि आमाल की ज़रूरत नहीं है।

अगर मुसलमानों के अन्दर कोई ख़ास जमाअत ऐसी हो कि वह नजात को अपना ख़ुसूसी हक़ समझ ले कि सिर्फ़ हम नजात के हक़दार हैं तो देखना होगा कि मुसमलमानों में उस जमाअत का ख़ास इम्तियाज़ क्या है?

तौहीद मुश्तरक, नुबुव्वत मुश्तरक, क़यामत मुश्तरक, फ़िरक-ए-नाजिया का इम्तियाज़ सिर्फ़ अद्ल और इमामत से है। और इसी लिए हम अपने को इमामिया कहते हैं। अब इस जमाअत के कुछ अफ़राद को ख़याल हो कि हमें अमल की ज़रूरत नहीं। मैं कहता हूँ कि इमामत के ख़याल का तो लाज़मी नतीजा है पैरवी, और ये नुबुव्व, रिसालत और इमामत इन सब के लुग़वी माने से ज़ाहिर है। नुबुव्वत व रिसालत जिसका हामिल नबी और रसूल होता है, इन लफ़्ज़ों का बराहे रास्त तक़ाज़ा वुजूबे इताअत नहीं है। इन दोनों मन्सबों के अलावा इमामत है जिसका हामिल इमाम होता है। ये हमारा ख़बरी अमीन है। अब तीनों के लुग़वी माने मुलाहेज़ा हों।

नबी के माने हैं ख़बर देने वाला तो दूसरों का काम क्या है। तस्दीक़ करना। रिसालत के माने पैग़ाम पहुँचाना तो दूसरों का काम है पैग़ाम को क़ुबूल करना। लेकिन इमाम के माने हैं। आगे-आगे चलने वाला तो दूसरों का काम क्या है? पीछे-पीछे चलना। अब इस से एक और पहलू पर तवज्जो फ़रमाइये। नबी के माने ख़बर देने वाला तो नबी की ज़रूरत उस वक़्त तक कि जब तक कोई एक ख़बर भी पहुँचाना बाक़ी है। रसूल का काम पैग़ाम पहुँचाना, तो जब तक कोई पैग़ाम पहुँचाना बाक़ी है उस वक़्त तक ये काम है और जब ये आख़िरी पैग़ाम पहुँचा दिया और तकमीले दीन हो गई तो अब रसूल की ज़रूरत नहीं लेकिन इमाम के माने हैं आगे-आगे चलने वाला तो जब तक रास्ता बाक़ी है और चलने वाले मौजूद हैं, तब तक रहनुमाई बाक़ी रहना ज़रूरी है।

थोड़ी देर के लिए नमाज़ में इमामे जमाअत होता है तो उसकी पैरवी इतनी ज़रूरी है कि रुकु रुक्ने नमाज़ है। पसन्द-ए-ख़ुदा है मगर इमाम से पहले हो गया तो बातिल। सजदा महबूब तरीन अमल है मगर इमाम से पहले हो गया तो बातिल। अब इन्साफ़ कीजिए कि इमामे जमाअत की मुताबेअत ज़रूरी हो और जो दीन और दुनिया का कुल्लियतन इमाम हो उसके अहकाम की ख़िलाफ़वर्जी की जाए और अफ़आल की मुताबेअत न हो। क्या सिर्फ़ बारह इमाम के नाम सुना देना ही काफ़ी है और उनकी रहनुमाई और मिसाली सीरत से कोई बहस नहीं। मगर ये अफ़सोसनाक हक़ीक़त है कि मुसलमानों में बिला तफ़रीक़े फ़िरक़ा ये बात हो गई है कि अमल से जान बचाते हैं। पहले तमाम मुसलमानों ने अपने को उम्मते मरहूमा कह दिया मगर इसकी कोई दलील होना चाहिए। आख़िर क्या ख़ुसूसियत है कि जो पूरी की पूरी उम्मत मरहूमा हो जाए। इसकी दलील ये कही जा सकती है कि चूँकि हम रहमतुल लिलआलमीन से वाबस्ता हैं इसलिए रहमते इलाही हमारे शामिले हाल है। लेकिन अगर ख़ुदा नख़्वास्ता हमारा रास्ता रहमतुल लिलआलमीन के रास्ते से अलग हो गया तो बताइये रहमते इलाही इधर आयेगी या उधर जायेगी?

फिर उम्मत होना तो एक रिश्ता है हम रसूल[स०] से रिश्ता बता रहे हैं मगर रसूल भी तो हमें अपनी उम्मत में समझें। क़ुरआन मजीद में एक रसूल की ज़बानी एलान है:-

"जो मेरी पैरवी करे, वह मुझ से ताल्लुक़ रखता है।"

इसके माने ये हैं कि जो पैरवी नहीं करता वह रसूल से ताल्लुक़ नहीं रखता तो उम्मते रसूल होना कैसा? फिर इसके बाद रसूल अपनी उम्मत फ़रमा भी दें, अल्लाह भी रसूल[स०] की उम्मत में जाने। कोई कहे ये क्योंकर हो सकता है कि रसूल अपनी उम्मत कहें और अल्लाह क़ुबूल न करे? मैं कहता हूँ कि हज़रत

नूह[अ०] भी तो रसूल थे, वह कह रहे थे ''मेरा बेटा मेरे अहल में से है'' ख़ालिक़ पे पहली निस्बत की नफ़ी नहीं फ़रमाई। जवाब में ये नहीं कहा कि वह तुम्हारा बेटा नहीं है मगर दूसरी निस्बत के लिए कहा जाता है। ''वह तुम्हारे अहल से नहीं है'', ''उसके आमाल अच्छे नहीं हैं''। मालूम हुआ कि आमाल वह हैं कि बेटा अहल से ख़ारिज हो जाता है। उम्मत होना क्या चीज़ है। अब जिस पैग़म्बरे ख़ातम की ज़बान से नूह[अ०] का वाक़िआ हम तक पहुँचा है, वह अगर चादर खींच कर कभी कुछ अफ़राद के लिए कह दे।

''परवरदिगार! ये मेरे अहल हैं'' तो अब दुनिया नसबी रिश्ते न देखे कि ये दामाद हैं, वह बेटी हैं, वह नवासे हैं बल्कि महसूस करे कि इनका किरदार इतनी बलन्दी पर है कि पैग़म्बर अपने पैग़म्बराना ज़मीर के इस्तेहकाम के साथ ख़ुद अल्लाह से मुख़ातब होकर कह रहे हैं कि ये मेरे अहल हैं।

बहरहाल ये तो तमाम मुसलमानों की बात थी कि उन्होंने एक जमाअत की हैसियत से अपने को उम्मते मरहूमा क़रार दिया। अब उम्मत के एक गिरोह का ज़िक्र है जिसने अपना लक़ब क़रार दिया ''फ़िरक़-ए-नाजिया'', ''नाजिया'' से मतलब नजात पाने वाले। वह क़ुरआनी मुतालबा कि अपनी दलील पेश करो, उनकी तरफ़ भी मुतवज्जह है मगर ख़ुदा का शुक्र है फ़िरक़-ए-नाजिया की एक फ़र्द होते हुए मैं इसकी दलील पेश कर सकता हूँः

ये हदीस मुत्तफ़क़ अलैह है कि रसूल[स०] ने फ़रमायाः

''मेरी उम्मत के तिहत्तर फ़िरक़े होंगे जिनमें सब दोज़ख़ की आग में होंगे, सिवा एक फ़िरक़े के''

इस से समझ में आया कि तिजारत के लिए उम्मत में काफ़ी नहीं है। इस फ़िरक़े में होना ज़रूरी है। अब पैग़म्बर ही ने पहचान भी नाजी फ़िरक़े की बताई है। वरना पैग़म्बरे ख़ुदा पर हर्फ़ आता कि नजात के हक़दार की निशानी न बताई। तिहत्तर रास्तों में हम कैसे सही रास्ते की पहचान करें जो मंज़िल तक पहुँचाए। अगर पैग़म्बर[स०] न बताते तो मुसलमान का फ़रीज़ा था कि रसूल का दामन थाम कर पूछें कि उस फ़िरक़े की पहचान तो बता दीजिऐ। इससे मालूम होता है कि पैग़म्बर ने बताया, अगर बताया न होता तो अस्हाब पूछते क्यों न? बेशक बताया और इन अलफ़ाज़ में बताया किः

''मेरे अहलेबैत[अ०] की मिसाल नूह की कश्ती की सी है जो इस पर सवार हुआ, उसने नजात पाई और जो पीछे रह गया वह डूबा और गया।'' पीछे रहने के क्या माने हैं? कश्ती पर नहीं बैठा या बैठ कर रास्ते में किसी मंज़िल पर उतर गया वह फ़िरक़ा जो अहलेबैत की कश्ती में सवार हुआ है, वह नाजी है।

अब सवाल ये है कि अहलेबैत की कश्ती पर बैठने का मतलब क्या है? ज़ाहिर है कि ये इस्तेआरा है। इस्तेआरे की बुनियाद तश्बीह पर होती है। कोई एक बात मुश्तबा और मुश्ब्बह में मुश्तरक होती है, वह वजहे जामेआ कहलाती है। अब ये देखना है कि कश्ती पर बैठने में क्या होता है?

इस सवाल का मफ़हूम उन सवालात और उन जवाबात से वाज़ेह होगा आप साहिल पर खड़े हैं और कश्ती दरिया में है साहिल पर से आप कश्ती की तारीफ़ करें कि बहुत ख़ूबसूरत कश्ती है, तो ये क्या कश्ती पर बैठना है? जवाब इसका ये है कि नहीं, ये कश्ती पर बैठना नहीं है।

अब दूसरी बात, साहिल पर खड़े ही खड़े कहने लगें कि हम इस कश्ती को बहुत चाहते हैं और मुहब्बत का दावा सही भी हो, क्योंकि अगर वह कश्ती क़ाबिले मुहब्बत है तो उस से मुहब्बत होना चाहिए। ये कोई आपका कारनामा नहीं है ये उसके हुस्न का तक़ाज़ा है मगर मुहब्बत साहिल पर खड़े-खड़े कश्ती पर बैठना तो नहीं है। अब इसके बाद नाज़ुक तर मंज़िल है कि साहिल पर खड़े हैं और कश्ती भंवर में पड़ गई। बादे मुख़ालिफ़ के थपेड़े पड़ने लगे और आप उसकी बर्बादी पर आँसू बहाने लगे। ये आँसू भी बेक़ीमत नहीं हैं। दर्दे दिल की दलील हैं। मुहब्बत का सुबूत हैं मगर वह बात अपनी जगह पर क़ायम है कि साहिल पर खड़े-खड़े ये आँसू बहाना भी कश्ती पर बैठना नहीं है। फिर कश्ती

पर बैठने में क्या होता है?

मेरी तो समझ में यही आता है कि कश्ती पर जा के बैठ गए तो न हमारी ज़ाती हरकत कुछ है, न ज़ाती सुकून, कश्ती चली तो हम चले, कश्ती रुकी तो हम रुके। बस अब अहलेबैत की कश्ती पर बैठने के माने समझ में आ गये। वह ये हैं कि अपनी हरकत और सुकून को अहलेबैत के ताबे बना दो जहाँ अहलेबैत ने क़दम आगे बढ़ाए हों वहाँ क़दम आगे बढ़ाओ जहाँ तक गए हों वहाँ क़दम रोक लो तो ये है अहलेबैत की कश्ती पर बैठना। इस सूरत में जहाँ कश्ती पहुँचेगी वहाँ हम पहुँचेंगे इसलिए मासूम ने इरशाद फ़रमाया हैः-

''हमारे पैरो हमारे दर्जे में होंगे क़यामत के दिन।''

आज कहा जाता है कि जब हम अहलेबैत के चाहने वाले और मोमिन हैं तो हमें इबादत और इताअत की क्या ज़रूरत है?

हालांकि मंज़िले मुहब्बत व ईमान में हम बुरैर हमदानी या हबीब इब्ने मज़ाहिर या मुस्लिम बिन औसजा के बराबर हरगिज़ नहीं हैं। कर्बला में तो फ़राएज़े इन्सानी के तमाम शोबों को ज़िन्दा रखा गया, चुनानचे नमाज़ जैसी कर्बला में पढ़ी गई वैसी कभी नहीं पढ़ी गई। देखिये! ग़ैर मासूमीन का ज़ौक़े इबादत भी कर्बला में कितना बुलन्द था। जंगे सिफ़्फ़ीन में हज़रत अली इब्ने अबी तालिब नमाज़ पढ़ रहे हैं और तीर इधर-उधर आकर गिर रहे हैं तो जनाबे अब्बास ने कहा कि ये नमाज़ का मौक़ा है? हज़रत अली[अ०] ने कहा कि ऐ इब्ने अब्बास! इसी नमाज़ के लिए के लिए तो हम जंग कर रहे हैं।

यहाँ इमाम का अमल सामने है। फिर भी जनाब इब्ने अब्बास हैरत से सवाल कर रहे हैं। अब ज़रा अबू सुमामा साएदी का ज़ौक़ इबादत देखिये कि तीरों की बारिश है, हंगामे जंग और इधर निगाह आफ़ताब पर है फ़िक्र है कि इमाम न कहने पाएं और हम अपने ज़ौक़े इबादत का नज़राना इमाम की ख़िदमत में पेश कर दें। कहते हैं कि मौला! तमन्ना ये है कि ये नमाज़ आपके साथ बजमाअत अदा हो जाए। अबूसुमामा के कहने पर दुआएं देते हैं जैसे उस्ताद शार्गिद से मुकम्मल जवाब पर ख़ुश होकर दुआएं देः

''तुम ने ख़ुद से नमाज़ को याद किया। अल्लाह तुम्हारा शुमार नमाज़ियों और याद रखने वालों में करे।

हाँ-हाँ ये अव्वल वक़्ते नमाज़ है। ये है निगाहे ग़ैरे मासूम की इस्मत जिसकी सनद इमाम दे रहे हैं।

ज़ोहर की नमाज़ किस तरह हुई। सईद और ज़ुहैर सामने खड़े हैं। तीर आते हैं अपने ऊपर रोक कर नमाज़ मुकम्मल कराते हैं। ये दो क़ुर्बानियाँ सिर्फ़ नमाज़ के लिए थीं। इधर नमाज़ हो रही है उधर तीर खाए जा रहे हैं। किसी को ये समझने का हक़ नहीं कि उन्होंने नहीं पढ़ी, कौन कह सकता है कि तीर खाने के लिए झुके तो रुकु नहीं किया और सीधे हुए तो क़याम नहीं किया और इशारों से सजदे नहीं कर लिये। हा उस जमाअत में शरीक नहीं थे। उनका भी वही ज़ौक़े इबादत था जो अबुसुमामा का था, मगर इताअत व हिफ़ाज़ते इमाम मुक़द्दम थी और अब ये फैसला कोई नहीं कर सकता, कि उनकी नमाज़ अफ़ज़ल है जो मौला के पीछे नमाज़ पढ़ रहे थे या उनकी जो इमाम के आगे खड़े नमाज़ पढ़ने के साथ-साथ इमाम को नमाज़ पढ़वा रहे थे।

इधर इमाम ने सलाम फेरा और सईद ज़मीन पर गिरे और कहाः

''मौला! क्या मैंने वफ़ा का हक़ अदा कर दिया?''

फ़रमायाः हाँ तुम ने वफ़ा का हक़ अदा कर दिया। अल्लाह तुम्हें बेहतरीन बदला अता फ़रमाए।

ये नमाज़े ज़ोहर का ज़िक्र था बहुत मुमकिन है कि उसी वक़्त नमाज़े अस्र भी जमाअत से अदा हुई हो क्योंकि सफ़र और ख़ौफ़ में बइजमाए उम्मत जम-ए-बइनुस्सलातैन दुरुस्त है। हज़रत के लिए उस वक़्त दोनों बातें जमा थीं। मगर हमारे रहनुमायाने दीन और मासूमीन बिला शुबह औक़ाते फ़ज़ीलत पर अलग-अलग नमाज़ पढ़ने के पाबन्द थे चुनानचे कुतुबे मक़ातिल बताते हैं कि हज़रत इमाम हुसैन[अ०] ने इसके बाद आख़िरी लमह-ए-हयात में नमाज़े अस्र अदा की। मगर उस नमाज़ की पूरी कैफ़ियत बयान करने से मेरी ज़बान क़ासिर है। **(बक़िया पेज.....14 पर)**

वरम शदीद होने लगा तो असमा से फ़रमायाः ''असमा मुझे ये बिल्कुल अच्छा नहीं लगता कि औरतों को मरने के बाद एक ऐसी चीज़ पर लिटाकर चादर डाल दी जाती है जिससे उनके बदन का हजम नुमायाँ होता है। ये सुनते ही असमा ने अर्ज़ कियाः बीबी हब्शा में हम ने एक ताबूत देखा है जिसके अन्दर मय्यत को रखा जाता है फिर असमा ने वह ताबूत बनाकर दिखाया तारीख़ कहती है कि ये देखकर फ़ातिमा ज़हरा[स°] के चेहरे पर मुस्कुराहट के आसार नुमायाँ हुए बाद रसूले खुदा[स°] सिद्दीक़-ए-कुबरा[स°] के चेहरे पर यही अव्वल व आख़िर मुस्कुराहट थी जिसे तारीख़ ने अपने सीने पर महफ़ूज़ किया। मुस्कुराते हुए असमा से फ़रमायाः ''(ऐ असमा!) मेरे लिए भी ऐसा ही ताबूत बनाना, मेरे जनाज़े का पर्दा करना ख़ुदा तुम्हें जहन्नम की आग से पर्दे में रखे (महफ़ूज़ रखे)।

सिद्दीक़-ए-कुबरा की शहादत के बाद आपको वसिय्यत के मुताबिक़ ऐसे ही ताबूत में रखा गया और तारीख़े इस्लाम में सबसे पहली बार ताबूत आप ही के लिए इस्तेमाल हुआ। जब किसी ने मासूम से पूछा कि सबसे पहले ताबूत किसके लिए बनाया गया तो आपने फ़रमाया फ़ातिमा बिन्ते रसूल[स°] के लिए।

बिन्ते रसूले ख़ुदा[स°] की शहादत के जांसोज़ और रूह फ़रसा मौक़े पर हम सबको मिलकर इस बात का अहद करना चाहिए कि अगर अब तक कोताहियों के नतीजे में हमारी माएं, बहनें और बेटियाँ बेपर्दा थीं तो आज के बाद वह कभी बेपर्दा नहीं रहेंगी और तमाम ख़वातीन को भी पक्का इरादा करना चाहिए कि बिन्ते रसूल[स°] की ख़ुशी के लिए हम ख़ुद भी बाहिजाब रहेंगे और दूसरी ख़वातीन को भी पर्दे के फ़ायदे बताकर उन्हें बाहिजाब रहने की तलक़ीन करेंगे। **(जारी)**

बक़िया....... इस्लाम दीने अमल है

बस इतना कहूँगा कि अब ज़ुलजनाह की पुश्त ख़ाली हो चुकी थी। अब राकिबे दोशे रसूल[स°] ज़मीन के ऊपर था। इसके बाद न कहूँगा कि रुकू क्योंकर हुआ? क़्याम किस आलम में हुआ? बस सजदे का ज़िक्र और इसी पर मजलिस ख़त्म। यक़नन अली[अ°] का सजदा भी यादगार था। 19 रमज़ान की सुब्ह को जिसका गवाह बाद में तुलू होने वाला सूरज था और हुसैन[अ°] का ये आख़िरी सजदा है 10 मुहर्रम की अस्र का जिसका गवाह ग़ुरूब की तरफ़ मायल होता हुआ सूरज है। मगर मैं ख़ुद बारगाहे अमीरुलमोमिनीन में अर्ज़ करूँगा कि या अली[अ°] यक़ीनन आपकी भी नमाज़ और सजदे यादगार हैं मगर आपको सजदे से सर उठाने का मौक़ा मिला। लेकिन हुसैन[अ°] ने तो बस सर सजदे में दिया, वह उसके बाद बलन्द हुआ तो ज़ालिमों के हाथ से नोके नेज़ा पर। **(12 नवम्बर 1977, 11 बजे दिन फ़ज़ाबाद)**